

हिन्दी उपन्यास और भारतीय समाज का मध्यवर्ग

Mrs. Bala Devi*

Student

-----X-----

प्रस्तावना

पश्चिम में, जहाँ उपन्यास ने जन्म लिया, इस बात को अनेक चिन्तकों में अनुभव किया कि उपन्यास महाकाव्य का स्थानापन्न है। हीगेल ने यह बात कही और लुकाच ने भी यह स्थापना सामने रखी कि आधुनिक काल में उपन्यास महाकाव्य की उस वर्णनात्मक विशेषता को पकड़ने का एक प्रयत्न है, जो पदार्थ और आत्मा, जीवन और तत्त्व में सामंजस्य स्थापित करती है। यह महाकाव्य का स्थानापन्न है, क्योंकि आधुनिक जीवन की परिसिथितियों ने अब महाकाव्य की रचना को असम्भव बना दिया है। (फ्रेडरिख सैमसन : मार्क्सिज्म एण्ड फार्म, पृ.171-72) इस बात को यों भी कहा जा सकता है कि उपन्यास गद्य में लिखा गया महाकाव्य है। यह स्थापना पूर्णतः सत्य हो या न हो, लेकिन आंशिक रूप से सत्य अवश्य है। अब किसी भी भाषा में कितने पथबद्ध महाकाव्य या प्रबन्धकाव्य लिखे जाते हैं। और जो लिखे भी जाते हैं वे महाकाव्य की कसौटी पर कितने खरे उतरते हैं? दरअसल, हुआ यह है कि अब साहित्य आम आदमी के जीवन से जुड़ गया है, और आम आदमी के जीवन में महाकाव्यात्मक, औदात्य की सिथितियाँ, कर्म और अनुभव सामान्यतः सुलभ नहीं हैं। लेकिन सामान्य जन के जीवन को औदात्यपूर्ण चित्रण करने वाले ऐसे अनेक उपन्यास लिखे गए हैं जिन्हें महाकाव्यात्मक उपन्यास कहा गया है लेकिन ऐसे उपन्यासों की महाकाव्यात्मकता न तो निम्न वर्ग की है, न उच्च वर्ग की, अपितु मध्यवर्ग की है। वस्तुतः उपन्यास मध्यवर्ग का ही महाकाव्य या प्रबन्धकाव्य है।

उपन्यास के साथ मध्यवर्ग का दोहरा सम्बन्ध है। एक ओर वह उपन्यास का रचनाकार होता है और दूसरी ओर उसका पाठक एवं आस्वादक। इसीलिए किसी भी भाषा में उपन्यास का उदभव और विकास मध्यवर्ग के उदभव और विकास के साथ जुड़ा हुआ है। निम्नवर्ग का व्यक्ति अपने शारीरिक श्रम से जीविका कमाता है। उसकी सारी शक्ति, उसका सारा समय दो वक्त की रोटी कमाने में ही निकल जाता है। रोज़ कुआँ खोदने और रोज़ पानी पीने की

प्रक्रिया में उसके पास साहित्य, कला आदि के लिए न तो समय बच पाता है और न ही वह उनके सृजन-आस्वादन की क्षमता विकसित कर पाता है। यदि निम्न वर्ग का कोई व्यक्ति किसी प्रकार इस योग्य बन जाता है तो उसका वर्ग-चरित्र बदल जाता है। वह निम्न वर्ग से उठकर मध्य वर्ग का व्यक्ति बन जाता है। उच्च वर्ग का व्यक्ति अपनी जीविका न शारीरिक श्रम से कमाता है, न मानसिक श्रम से। उसकी जीविका के साधन उसके पारम्परिक अधिकार उसकी सम्पत्ति या पूँजी होती है। फलतः इस वर्ग का व्यक्ति अपनी इन्द्रियों की तृप्ति और अपने अधिकार एवं पूँजी के संरक्षण में इतना संलग्न रहता है कि साहित्य, कला आदि के प्रति न उसकी अभिरुचि होती है और न उसमें इसके लिए क्षमता का विकास हो पाता है। मध्यवर्ग का व्यक्ति अपनी जीविका बौद्धिक श्रम से कमाता है, जिसके कारण स्वाभाविक रूप से वह किसी समाज के साहित्य, कला, संस्कृति आदि का संवाहक बन जाता है। उसके पास सृजन-क्षमता होती है और परिष्कृत अभिरुचि होती है। उसके पास इतना अवकाश भी होता है कि वह साहित्य, कला आदि का आनन्द ले सके और उनकी अनुशंसा कर सके। यही कारण है कि हमारे देश में विभिन्न भाषाओं का साहित्य अनिवार्यतः मध्यवर्ग के साथ जुड़ा है। हिन्दी साहित्य इसका अपवाद नहीं है। अतः हिन्दी उपन्यास भी अनिवार्यतः हिन्दी भाषी मध्यवर्ग के साथ सम्बद्ध है।

आधुनिक काल से पूर्व भी मध्यवर्ग रहा है, लेकिन आधुनिककाल से पूर्व संख्या और वर्चस्व दोनों की दृष्टि से वह अत्यन्त क्षीण था। भारत में अंग्रेजों ने जो नई प्रशासनिक व्यवस्था स्थापित की, नए ढंग की शिक्षा का प्रसार किया, नई तरह की अर्थव्यवस्था शुरू की उस सबसे मध्य वर्ग का विस्तार हुआ, उसका वर्चस्व बढ़ा और वह अपने महत्त्व के प्रति सचेत हुआ। इस तरह से भारतीय समाज का नेतृत्व उसके हाथ में आ गया। जीवन के अन्य क्षेत्रों की तरह साहित्य के क्षेत्र में भी नवीनता और आधुनिकता का समावेश उसी के कारण हुआ। साहित्य में नई-नई विधाओं का प्रारम्भ उसी के कारण हुआ।

उपन्यास भी एक नई साहित्यिक विधा के रूप में ही सामने आया। यह अकारण नहीं है कि हिन्दी से पहले उपन्यास का उदभव बंगला और मराठी में हुआ। अंग्रेजों का आधिपत्य सबसे पहले बंगाल में स्थापित हुआ। वहीं मध्यवर्ग का वर्चस्व भी सबसे पहले स्थापित हुआ। वहीं नए मध्यवर्ग में आत्मसजगता भी सबसे पहले आई और वहीं उपन्यास भी सबसे पहले जन्मा और पनपा। हिन्दी भाषी क्षेत्रों पर अंग्रेजी का आधिपत्य सबसे बाद में स्थापित हुआ। इसीलिए हिन्दी में उपन्यास का जन्म भी बहुत बाद में हुआ।

हिन्दी उपन्यास में माध्यम वर्ग

हिन्दी का पहला उपन्यास कौन-सा है, इस पर थोड़ा विवाद रहा है। हिन्दी के पहले उपन्यास के रूप में जिन चार रचनाओं की चर्चा की जाती है, वे हैं पं. गौरीदत्त-लिखित 'देवरानी-जिठानी की कहानी' (1870 ई.), मुंशी ईश्वरीप्रसाद मुद्गिरिस 'रियाजी और मुंशी कल्याण राव मुद्गिरिस अव्वल उद्गिरिस-लिखित 'वामा-शिक्षक अर्थात् 'दो भाई और चार बहनों की कहानी' (1872 ई.), पं. श्रद्धाराय फिल्लौरी-लिखित 'भाग्यवती' (1877 ई.) और लाला श्रीनिवासदास-लिखित 'परीक्षा-गुरु' (1882 ई.)। इन चारों रचनाओं के रचनाकार मध्यवर्ग के व्यक्ति हैं। इन चारों का लक्ष्य भी एक ही है अर्थात् समाज-सुधार। अब पहली तीन रचनाओं को उपन्यास नहीं माना जाता, लेकिन हिन्दी कथा-साहित्य के ऐतिहासिक विकास में उनकी भूमिका का महत्व असंदिग्ध है। इन तीनों की रचना स्कूलों में पढ़ने वाली लड़कियों के लिए और उन्हें आदर्श गृहिणीत्व की शिक्षा देने के लिए की गई थी। पं. श्रद्धाराम फिल्लौरी ने 'भाग्यवती की भूमिका में लिखा था" बहुत दिनों से इच्छा थी कि कोई ऐसी पोथी हिन्दी में लिखूँ कि जिसके पढ़ने से भारत खंड की सित्रायों को गृहस्थ धर्म की शिक्षा प्राप्त हो क्योंकि यद्यपि कई सित्रायों कुछ पढ़ी-लिखी तो होती है परन्तु सदा अपने ही घर में बैठे रहने के कारण उनको देश विदेश की बोलचाल और अन्य लोगों से बरत-व्यवहार की पूरी बुद्धि नहीं होती। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए इनकी कहानियाँ यथार्थ जीवन से न उठाकर फार्मूलाबद्ध ढंग से गढ़ी गई हैं। उदाहरण के लिए 'देवरानी-जिठानी की कहानी के घटनाक्रम और देवरानी जिठानी के परस्पर विरोधी चरित्रों को देखा जा सकता है। इस कथा-रचना की देवरानी शिक्षित और सर्वगुणसम्पन्न है। गाँव की लड़कियों को पढ़ाना, सिलाई-कढ़ाई करना और गाँव की लड़कियों को सिखाना, अपना कमरा स्वच्छ और सुसज्जित रखना, समय का पूरा-पूरा सदुपयोग करना, प्रातः चार बजे उठकर घर की सफाई करना, नहाना-धोना, स्वादिष्ट भोजन बनाना, पति और सास-ससुर की सेवा करना, अपने बच्चे का अच्छी तरह पालन-पोषण करना, उसे पढ़ाना, अच्छे अंग्रेजी स्कूल में प्रवेश दिलाना,

बचपन में ही उसकी सगाई न करना, अपने बच्चों को चेचक का टीका लगवाना, बच्चे को गहने पहनाकर खेलने न भेजना आदि उसके चरित्र की विशेषताएँ हैं। स्पष्ट है कि वह तत्कालीन आदर्श मध्यवर्गीय गृहिणी है। आज भी मध्यवर्ग का व्यक्ति ऐसी आदर्श गृहिणी की कामना करता है। देवरानी के ठीक विपरीत जिठानी का चरित्र है। वह अशिक्षित और फूहड़ है। कोई भी काम ठीक से नहीं करती। न स्वयं साफ-सुथरी रहती है, न घर को साफ-सुथरा रखती है। बहुत खराब खाना बनाती है। उपले थोपने, आटा पीसने, बर्तन धोने, शारीरिक मेहनत के काम करने, जबान लड़ाने में बड़ी कुशल है। वह सीना-पिरोना नहीं जानती। सास-ससुर की सेवा नहीं करती, देवरानी से लड़ती है, बच्चे के पालन-पोषण से अनभिज्ञ है, अपनी लड़की को अफीम खिलाकर सुलाती है, बचपन में ही उसकी शादी कर देती है। लड़की के पति के मर जाने पर उसकी जायदाद हड़पने की असफल कोशिश करती है, इत्यादि अर्थात् जिठानी अवगुणों की खान है। देवरानी जिठानी को जिस रूप में प्रस्तुत किया गया है, उसमें उन्नीसवीं सदी में विकसित होते भारतीय मध्यवर्ग की आशा-आकांक्षाएँ और आदर्श जीवन की परिकल्पनाएँ अन्तर्निहित हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी में विकसित हो रहे मध्यवर्गीय समाज का एक और चित्र 'परीक्षा-गुरु' में प्रस्तुत किया गया है। 'देवरानी-जिठानी की कहानी की देवरानी अपने लड़के को एक अच्छे अंग्रेजी स्कूल में प्रवेश दिलाती है। उस समय भारतीय मध्यवर्ग में अंग्रेजी शिक्षा के प्रति आकर्षण बढ़ रहा था और यह आकर्षण आज भी कम नहीं हुआ है, साथ ही अंग्रेजी वस्तुओं के प्रति भी आकर्षण बढ़ रहा था। दिल्ली के एक रईस लाला मदनमोहन की विलासी प्रवृत्ति, चाटुकार मित्रा, विदेशी वस्तुओं के प्रति उनका आकर्षण, पैसा न होने पर भी उन्हें खरीदना, हितैषी मित्रा वकील ब्रजकिशोर और 'गँवारिन-सी लगने वाली पत्नी की सलाह की उपेक्षा आदि उन्हें दिवालिया बना देते हैं। उन्हें हवालात की हवा खानी पड़ती है। अन्त में उनके वकील मित्रा ब्रजकिशोर और उनकी पत्नी ही उन्हें पुनर्प्रतिष्ठित करते हैं। और वे जो नेक सलाह से नहीं सीखते, मुसीबत में पड़कर सीख लेते हैं। उनके लिए 'परीक्षा ही 'गुरु सिद्ध होती है। कहने को 'परीक्षा गुरु एक रईस अर्थात् उच्च वर्ग के व्यक्ति की कथा है, लेकिन वास्तव में उसमें व्याप्त दृष्टि मध्यवर्ग की अर्थात् उसके लेखक लाला श्रीनिवासदास की है। उन्होंने दिल्ली के रईसों का जीवन निकट से देखा था लेकिन वे स्वयं उस वर्ग के व्यक्ति नहीं थे। वे उस मध्यवर्ग के व्यक्ति थे जो अपनी शिक्षा-दीक्षा के कारण दूसरों को सिखाने का अपने को अधिकारी समझता है और अपनी सीमित-निश्चित आय के कारण बहुत सोच-समझकर उपभोग करता है।

'परीक्षागुरु' में भरी पड़ी उपदेशात्मकता इसी का परिणाम है। यह उपदेशात्मकता इस "अनुभव के द्वारा, उपदेश मिलने की संसारी वार्ता जितनी अनुभव पर आधारित है उतनी ही लेखक के अध्ययन पर आधारित है। 'परीक्षागुरु' के 'निवेदन' में लाला श्रीनिवासदास ने लिखा है "इस पुस्तक के रचने में मुझको महाभारतादि संस्मित, गुलिस्ताँ वगैरे फारसी, स्पेक्टेटर, लार्ड बेकन, गोल्डसिमथ, विलियम कपूर आदि के पुराने लेखों और स्वाभाविक आदि के वर्तमान रिसालों से बड़ी सहायता मिली है इसलिए इन सबका मैं बहुत उपकार मानता हूँ। (श्रीनिवास ग्रन्थावली सं. डा. श्रीनिष्ण लाल, प्रथम संस्करण, पृष्ठ 156)।

हिन्दी उपन्यास के विकास के इस प्रारम्भिक-चरण में, और बाद में भी, उसके साथ मध्यवर्ग का तिहरा सम्बन्ध रहा है एक, उपन्यास मध्यवर्ग का सदस्य व्यक्ति लिखता रहा है; दो उपन्यास में मध्यवर्ग के या मध्यवर्गीय दृष्टि से अन्य वर्गों के जीवन का चित्रण होता रहा है, और तीन, उपन्यास का लक्षित पाठक सामान्यतः मध्यवर्ग रहा है। इसलिए जो कुछ इस वर्ग के जीवन में घटता रहा है, जो कुछ अपने जीवन में या अपने चतुर्दिक के जीवन में घटता हुआ इस वर्ग का व्यक्ति देखता रहा है, अपने जीवन में विविध अनुभवों से गुजरता रहा है, अनुभव और अध्ययन से जो कुछ वह सीखता रहा है, तथा उसकी जो भी आशा-आकांक्षाएँ और कल्पनाएँ रही हैं, वे सब हिन्दी-उपन्यास में प्रतिबिम्बित हुई हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में हिन्दी में जो उपन्यास लिखे गए, उन्हें प्रेरणा की दृष्टि से हम दो वर्गों में रख सकते हैं। एक वर्ग उन उपन्यासों का है जिन्हें हम सामाजिक उपन्यास कह सकते हैं। राधाकिष्णदास के 'निस्सहाय हिन्दू', देवीप्रसाद वर्मा के 'विधवा-विपत्ति', बालकिष्ण भट्ट के 'नूतन ब्रह्मचारी और 'सौ अजान एक सुजान, लज्जाराम मेहता के 'आदर्श हिन्दू', 'धूर्त रासेक लाल', 'स्वतन्त्रा रमा और परतन्त्रा लक्ष्मी', 'हिन्दू गृहस्थ', 'बिगड़े का सुधार', 'आदर्श दम्पति', 'भुवनेश्वर मिश्र के 'धराऊ, घटना, हरिऔध के 'ठेठ हिन्दी का ठाठ और 'अधखिला फूल आदि की गणना इस वर्ग में की जा सकती है। उपन्यास कला की दृष्टि से इन्हें श्रेष्ठ उपन्यास नहीं कहा जा सकता। इनमें अपवादस्वरूप एकाध उपन्यास को छोड़ दें तो ये लोकप्रिय भी नहीं हुए। लेकिन इनका महत्व इस बात में है कि उस समय के मध्यवर्गीय जीवन में परम्परा और आधुनिकता के बीच जो द्वन्द्व उत्पन्न हो गया था, उसके विभिन्न पक्षों को ये उपन्यास ईमानदारी से चित्रित करते हैं। उदाहरण के लिए 'निस्सहाय हिन्दू' को देखा जा सकता है। इस उपन्यास के केन्द्र में गोवध की समस्या है। इस उपन्यास की केन्द्रीय घटना भी गोवध से सम्बन्धित है। 1880 के

आसपास हैदराबाद, भागलपुर, मिर्जापुर, जौनपुर, बनारस आदि शहरों में गोवध की जो घटनाएँ घटीं और मजिस्ट्रेट की आज्ञा के विरुद्ध घटने पर भी सरकार ने उन्हें नहीं रोका, इस उपन्यास की प्रेरक बनीं। राधाकिष्णदास ने इस घटना को असाम्प्रदायिक और राष्ट्रीय रूप में प्रस्तुत किया। गोवध के विरोध में इस उपन्यास के नायक मदनमोहन, उनके मित्रा मौ. अब्दुल अजीज उनकी पत्नियाँ, भारत हितैषिणी सभा के सदस्य आदि इसके पक्ष में हैं तो हाजी अताउल्ला और अन्य धर्मान्ध मुसलमान विरोध में हैं। इस प्रश्न को लेकर जो झगड़ा होता है उसमें मदनमोहन, मौ. अब्दुल अजीज और दोनों की पत्नियाँ शहीद होती हैं तो दूसरे पक्ष के भी अनेक लोग मारे जाते हैं। लेकिन उपन्यास में इस मुख्य घटना के अतिरिक्त और भी बहुत कुछ है नए और पुराने का द्वन्द्व, पीढ़िया का अन्तराल, मध्यवर्ग का नवोदय, अंग्रेजों के हितैषी-चापलूसों का चित्रण, टैक्स का बोझ, पुलिस के अत्याचार और रिश्तखोरी, 1857 के विद्रोह के बाद अंग्रेजों के द्वारा छावनी, सिविल लाइन्स तथा पुलिस लाइन के रूप में नगरों का नया नियोजन आदि। इससे उस समय का सामाजिक यथार्थ उभरकर सामने आता है। सामाजिक श्रेणी के उपन्यास चाहे उस समय बहुत लोकप्रिय न हुए हों लेकिन ये प्रेमचन्द के उपन्यासों की भूमिका अवश्य तैयार करते हैं और उनसे हमें जोड़ते हैं। यद्यपि उस समय प्रभावशाली वर्ग तो सामन्त-जमींदार वर्ग था, तथापि इन उपन्यासों में उसका चित्रण नगण्य है और जो है भी, वह नकारात्मक है।

उस समय के हिन्दी के उपन्यासों का दूसरा वर्ग उन उपन्यासों का है जिन्हें मनोरंजक उपन्यास कहा जा सकता है। इस वर्ग में तिलस्मी ऐयारी, जासूसी और ऐतिहासिक उपन्यास आते हैं। लेखक तो इन उपन्यासों के भी मध्यवर्गीय व्यक्ति ही थे लेकिन इनमें प्रत्यक्षतः मध्यवर्गीय जीवन का चित्रण कम हुआ है यद्यपि जिस वर्ग के भी जीवन का चित्रण हुआ है उसके पीछे दृष्टि मध्यवर्गीय ही है। इन उपन्यासों को मध्यवर्गीय पाठकों की अभिरुचि ने बहुत प्रभावित किया है। देवकीनन्दन खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी, गोपालराम गहमरी इस प्रकार के उपन्यासों के मुख्य लेखक थे। इन उपन्यासों के लेखक अपने पाठकों को चमत्कारपूर्ण और रहस्यमयी घटनाओं तथा स्थूल श्रृंगार-चित्रण से बाँधते थे। मध्यवर्गीय पाठकों में ये उपन्यास अत्यधिक लोकप्रिय हुए। हिन्दी के तमाम पाठक इन उपन्यासों को पढ़ने के वैसे ही आदी हो गए जैसे कोई नशे का आदी होता है। बहुतों ने तो इन उपन्यासों को, देवकीनन्दन खत्री के 'चन्द्रकान्ता और 'चन्द्रकान्ता-सन्तति को पढ़ने के लिए हिन्दी सीखी। तिलस्मी उपन्यासों के सम्बन्ध में आचार्य हजारीप्रसाद

द्विवेदी ने ठीक ही लिखा है कि "इनमें अदभुत और असाधारण घटनाओं की ऐसी रेलपेल है कि पाठक का चित धक्का खा-खाकर आगे बढ़ता जाता है, उसे कथानक के गठन और चरित्र के विकास की बात याद ही नहीं रहती। अतिप्रात, अदभुत और असाधारण घटनाओं से आश्चर्यजनक परिस्थितियों का निर्माण तिलस्माती कथानकों का प्रधान आकर्षण था। इन कथानकों में 'लकलका नामक एक प्रकार की मादक वस्तु के प्रयोग का प्रसंग प्रायः ही आता रहता है, जिसके सूँघने से मनुष्य बेहोश हो जाता है। तिलस्माती उपन्यासों का वातावरण भी साहित्यिक 'लकलका है। वह पाठक को बेहोश और अभिभूत कर देता है; वह कथानक के उद्देश्य, गठन और पात्रों के साथ उनके सम्बन्ध की और पात्रों के मनोवैज्ञानिक विकास की बात सोच ही नहीं सकता। इन उपन्यासों ने हिन्दी जनता के चित को ऐसे ही मादक वातावरण में डाल रखा था। (हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास, संस्करण-1982: पृष्ठ 240) इसका परिणाम यह हुआ कि पुरानी पीढ़ी के कुछ लोग आज भी उपन्यास पढ़ने को अच्छी चीज नहीं मानते। तिलस्म का तिलस्म उस समय के पाठकों के सिर पर चढ़कर बोला ही था, साथ ही वह लेखकों के सिर पर चढ़कर भी बोला था। इतिहास से कथानक लेकर उपन्यास लिखने वाले लेखकों ने भी तिलस्म, ऐयारी और जासूसी का उपयोग अपने उपन्यासों में किया था। उन्होंने ऐतिहासिक प्रामाणिकता की चिन्ता नहीं की। किशोरीलाल गोस्वामी ने अपने ऐतिहासिक उपन्यासों के लिए कहा था कि "हमने अपने बनाए उपन्यासों में ऐतिहासिक घटना को सौंपा और अपनी कल्पना को मुख्य रखा है, और कहीं-कहीं तो कल्पना के आगे इतिहास को दूर से ही नमस्कार कर दिया है।

(मधुरेश : 'हिन्दी उपन्यास का विकास, प्रथम संस्करण 1998; पृष्ठ 26) कल्पना को मुख्य मानने के पीछे एक प्रेरणा तो उपन्यास को मनोरंजक बनाने की थी। दूसरी प्रेरणा नए उभरते हिन्दू मध्यवर्ग की राष्ट्रीयता की भावना थी। उस समय वे ऐतिहासिक उपन्यास विशेष लोकप्रिय होते थे "जिनमें मुसलिम शासनकाल अथवा ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासनकाल को कथा की पृष्ठभूमि बनाकर शासकों के अत्याचार, उनके द्वारा प्रजा का उत्पीड़न, उनकी काम लोलुपता, हिन्दू ललनाओं का अपूर्व शौर्य तथा उनके द्वारा अपने पतिव्रत और सतीत्व की रक्षा के लिए हँसते-हँसते प्राणों की आहुति दे देना, मातृभूमि की स्वतन्त्रता तथा स्वजाति तथा स्वधर्म की रक्षा के लिए राजपूत योद्धाओं का अपूर्व शौर्य, बलिदान इन सबका चित्रण किया जाता था। (ज्ञानचन्द जैन : प्रेमचन्द-पूर्व के हिन्दी उपन्यास, प्रथम संस्करण 1998; पृष्ठ 182)।

हिन्दी उपन्यास के इस प्रारम्भिक चरण में जो ऐतिहासिक उपन्यास लिखे जा रहे थे, उनमें से कुछ ऐसे थे, जो इतिहास की

व्याख्या हिन्दू-दृष्टि से कर रहे थे। इससे हिन्दू-मुसलमान के बीच विभेद पैदा होता था। लेकिन उस समय ऐसे मध्यवर्गीय हिन्दू राष्ट्रवादी भी थे, जो हिन्दू-मुसलिम एकता को रेखांकित करते थे, उसके पक्षधर थे, धार्मिक कट्टरता के विरोधी थे। जनवरी 1899 के 'हिन्दी प्रदीप' में प्रकाशित काशीप्रसाद जायसवाल का लेख 'हिन्दी उपन्यास-लेखकों को उलाहना इसका प्रमाण है। अपने इस लेख में उन्होंने ऐतिहासिक उपन्यास लिखने वालों से प्रार्थना की थी कि "हमारे देश-हितैषी उपन्यास-लेखकों। आपसे हाथ जोड़कर प्रार्थना है कि ऐसी चेष्टा किया कीजिए जिसमें हिन्दू-मुसलमान दोनों दिल से मिले जाएँ। (वही, पृष्ठ 184)।

हिन्दी उपन्यास का शैशव आधुनिक भारतीय मध्यवर्ग का भी शैशव था। जैसे-जैसे मध्यवर्ग प्रौढ़ होता गया वैसे-वैसे हिन्दी उपन्यास में भी प्रौढ़ता आती गई। हिन्दी उपन्यास की परिपक्वता के लक्षण सबसे पहले प्रेमचन्द के उपन्यासों में दिखायी दिए। उन्होंने पहले उर्दू में लिखना प्रारम्भ किया। 'असरारे मआविद उनका पहला उपन्यास है। हिन्दी में उनका पहला उपन्यास, 'सेवासदन (1918) प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास में उन्होंने वेश्यावृत्ति की समस्या को उठाया है। केन्द्रीय समस्या यही है। इसके बहाने मध्यवर्गीय समाज के और प्रश्न भी उभर आए हैं। वेश्यावृत्ति की समस्या को प्रेमचन्द ने स्त्री-शिक्षा के अभाव और दहेज के प्रचलन से जोड़ा है। यदि दुरोगा निष्णचन्द्र सुमन के विवाह में लड़के वालों की ओर से माँगे गए दहेज को जुटाने के लिए रिश्त न लेते, रिश्त लेने पर पकड़े जाने पर उनकी पत्नी शिक्षित और आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होती और परिवार को बिखरने न देती, यदि दहेज की सम्भावना न देखकर सुमन के होने वाले श्वसुर रिश्ता न तोड़ देते, यदि सुमन का विवाह अपने से बहुत बड़ी आयु के गजाधर से न होता, यदि वह उसके चरित्र पर सन्देह कर उसे घर से न निकालता, यदि उसी की स्थितियों में वेश्या बनी भोली उसे न मिलती, यदि समाज में असहाय स्त्री के प्रति अवमानना का भाव न होता, इत्यादि तो क्या सुमन वेश्या बनती? प्रेमचन्द ने दिखाया है कि स्त्री स्वेच्छा से वेश्या नहीं बनती है, समाज उसे वेश्या बनाता है। कुँवर अनिरुद्ध सिंह का यह कथन इसी स्थिति को रेखांकित करता है "जिस दिन नजराना, रिश्त और सूद-दर-सूद का अन्त होगा, उसी दिन दालमंडी उजड़ जाएगी। स्त्री के पतन का मूल कारण तो आर्थिक है। इसीलिए इस उपन्यास में प्रेमचन्द ने एक आश्रम की स्थापना 'सेवासदन की स्थापना में समस्या का समाधान खोजा है। अनेक आलोचकों ने लिखा है कि इस उपन्यास में न तो वेश्या-जीवन का यथार्थ चित्रण है और न वेश्यावृत्ति की समस्या का व्यावहारिक समाधान प्रस्तुत किया गया है। असल में प्रेमचन्द जिस मध्यवर्ग से जिस समय आए थे, यह

सम्भव भी नहीं था। प्रस्तुत सन्दर्भ में महत्व जिस बात का है वह है तत्कालीन मध्यवर्ग की आत्मसजगता या स्वचेतना। यह स्वचेतना सुधारवाद, शिक्षा-उपदेश और आदर्शवाद के रूप में सामने आती है। प्रेमचन्द की विशेषता यह है कि उन्होंने इसे मनोरंजक ढंग से कलात्मकता और मनोवैज्ञानिक स्वाभाविकता के साथ प्रस्तुत किया है।

प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में से प्रत्येक में एक केन्द्रीय समस्या को उठाया, किन्तु उसके साथ उससे सम्बद्ध अन्य अनेक समस्याओं को भी उठाया और उनके समाधान प्रस्तुत किए। यह कार्य उनके अन्य समकालीन उपन्यासकारों ने भी अपने-अपने ढंग से किया। प्रसादजी का 'तितली' उपन्यास प्रेमचन्द-स्कूल का ही उपन्यास है; लेकिन उनका 'कंकाल' नहीं। 'कंकाल' में धार्मिक संस्थानों में व्याप्त अनाचारों और अत्याचारों का यथार्थ चित्रण किया गया है। ये अनाचार और अत्याचार हिन्दू धर्म-संस्थानों में ही नहीं, ईसाई और मुसलिम धर्म-संस्थानों में भी व्याप्त हैं। इनका सबसे अधिक शिकार स्त्री होती है। 'कंकाल' की प्रेमचन्द के उपन्यासों से भिन्नता इस बात की धोतक है कि अब मध्यवर्ग न केवल संख्या बल की दृष्टि से बड़ा हो गया है अपितु उसकी सोच में भी विविधता आने लगी है। उसकी स्वचेतनता ने आत्मालोचन को भी स्वीकार कर लिया है। 'कंकाल' में प्रस्तुत धार्मिक संस्थानों की आलोचना को लेकर बवंडर नहीं खड़ा हुआ था, क्योंकि मध्यवर्ग का पाठक आत्मसंशोधन के लिए तैयार हो गया था।

प्रेमचन्द तक के हिन्दी उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में सामान्यतः संस्थाबद्ध जीवन से आगे बढ़कर व्यक्तिबद्ध जीवन का चित्रण प्रारम्भ किया। प्रेमचन्द के जीवनकाल में ही जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' और भगवतीचरण वर्मा ने उपन्यास लिखना प्रारम्भ किया। इनमें से किसी ने भी प्रेमचन्द का अनुसरण नहीं किया। जैनेन्द्र अपने उपन्यासों में अपने पात्रों को विशेषतः नारी पात्रों को सांस्थानिक जकड़बन्दी से मुक्त करके रूढ़ मूल्यों के स्थान पर नए मूल्यों को खोजना और स्थापित करना चाहते हैं। 'परख' (1929) से लेकर 'दशार्क' (1985) तक के अपने एक दर्जन उपन्यासों में स्त्री-पुरुष के भारतीय समाज में प्रचलित परम्परागत सम्बन्धों के स्थान पर वे नए प्रकार के सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं। वे विवाह के स्थान पर प्रेम को वरीयता प्रदान करते हैं। 'त्यागपत्रा' की मृणाल शारीरिक शुद्धता-सतीत्व-के स्थान पर मानसिक शुद्धता नए सतीत्व-की खोज में अपने जीवन को ही दाँव पर लगा देती है। वह समाज को तोड़ना नहीं चाहती कोई भी मध्यवर्गीय व्यक्ति समाज को तोड़ना नहीं चाहता लेकिन अपने जीवन में प्रयोग करके मूल सत्य को खोजना

अवश्य चाहती है। यह मृणाल की मध्यवर्गीय व्यक्तिवादिता है। यही मध्यवर्गीय व्यक्तिवादिता हमें हिन्दी के अन्य मनोवैज्ञानिक एवं प्रांतवादी उपन्यासकारों के उपन्यासों में अभिव्यक्त होती दिखाई देती है। इन उपन्यासों में से प्रायः सभी के उपन्यासों में मध्यवर्गीय काम-कुण्ठाओं का चित्रण हुआ है, उसकी व्याख्या और औचित्य चाहे मनोवैज्ञानिक आधार पर सिद्ध किया गया हो या दार्शनिक आधार पर। भगवतीचरण वर्मा जब 'चित्रालेखा' में इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पाप और पुण्य अपने आप में निरपेक्ष सत्य नहीं हैं, वे परिस्थितिजन्य सापेक्ष सत्य हैं तब वे भी मनोवैज्ञानिक और प्रांतवादी उपन्यासकारों की तरह सांस्थानिक रूढ़ धारणाओं से ही जूझ रहे हैं। इस नैतिक द्वन्द्व से उस समय केवल उपन्यासकार ही नहीं जूझ रहे थे अपितु प्रत्येक प्रबुद्ध मध्यवर्गीय भारतीय जूझ रहा था।

'त्यागपत्रा' की मृणाल की तरह कोई भी मध्यवर्गीय समाज को तोड़ना नहीं चाहता, लेकिन उसे बदलना अवश्य चाहता है। हिन्दी के प्रगतिवादी उपन्यासकारों ने अपने उपन्यास इसी प्रेरणा से लिखे। उन्होंने अपने उपन्यासों में समाज का चित्रण मार्क्सवादी दृष्टि से किया। मार्क्सवाद जैसे क्रान्तिकारी दर्शन को अपने जीवन में व्यावहारिक स्तर पर उतार पाना मध्यवर्गीय व्यक्ति के लिए सामान्यतः सम्भव नहीं होता है। हिन्दी के प्रायः सभी प्रगतिवादी उपन्यासकार मध्यवर्गीय परिवारों से आए इसलिए उन्होंने मार्क्सवाद को सतही स्तर पर लगभग फामूरूलाबद्ध तरीके से अपनाया और अपने उपन्यास लिखे। उन्होंने स्थापित किया कि व्यक्ति के संस्कार और आचरण उसके वर्गानुसार होते हैं और वर्ग बनाती हैं आर्थिक स्थितियाँ। यशपाल के उपन्यास 'मनुष्य के रूप' (1949) की सीमा के रूपान्तरण की कहानी यही सिद्ध करती है। इसीलिए प्रगतिवादी उपन्यासकारों पर यह आरोप लगाया गया कि वे प्रचारक हैं, उनका साहित्य प्रोपेगण्डा है। इस आरोप को उन्होंने निःसंकोच स्वीकार किया। अपने एक निबन्ध 'मेरी कहानी-लेखक कैसे बना' में राहुल साँत्यायन ने स्वीकार किया कि "मेरे उपन्यासों या कहानियों में प्रोपेगण्डा के तत्व को ढूँढने के लिए बहुत प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि उनके लिखने में उद्देश्य है कुछ आदर्शों की ओर पाठकों को प्रेरित करना। अगर यह उद्देश्य मेरे सामने न रहता तो शायद मैं कहानी या उपन्यास लिखता ही नहीं। इसलिए जिसे मेरे दोस्त प्रोपेगण्डा कहते हैं, उसे मैं अपनी मजबूरी मानता हूँ। राहुल साँत्यायन के साथ ही यह मजबूरी अन्य प्रगतिवादी उपन्यासकारों की भी थी। एक दृष्टि से यह मध्यवर्गीय मजबूरी है। हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यासकारों ने समाजसुधार की बात कही,

प्रगतिवादी उपन्यासकारों ने समाज को क्रान्ति के द्वारा आमूल बदलने की बात कही। समाजसुधार और क्रान्ति में कोटिभेद ही है, अन्यथा हैं दोनों मध्यवर्गीय प्रवृत्तियाँ ही। इस सन्दर्भ में प्रेमचन्द और यशपाल में एक स्तर पर अदभुत समानता दिखाई देती है। 'गोदान' से पहले के उपन्यासों में प्रेमचन्द आशावादी हैं। समाज सुधरेगा और जो शोषित-पीड़ित हैं, उनका भाग्योदय होगा, इसमें उनकी आस्था है, लेकिन 'गोदान' में यह खण्डित हो जाती है। उपन्यास के अन्त में होरी की मृत्यु और दातादीन से धनिया का यह कहना कि "महाराज घर में न गाय है, न बछिया, न पैसा। यही पैसे हैं, यही इनका गोदान है। प्रेमचन्द की निराशा को ही व्यक्त करता है। यशपाल भी 'झूठा सच' में आशावादी हैं। उपन्यास के अन्त में डाक्टर प्राणनाथ और तारा के दोषमुक्त होने और नेता सूद के सत्रह हजार वोटों से हार जाने पर डाक्टर प्राणनाथ का यह कहना उपन्यासकार के आशावाद का धोतक है कि "...जनता निर्जीव नहीं है। जनता सदा मूक भी नहीं रहती। देश का भविष्य नेताओं और मन्त्रियों की मुट्ठी में नहीं है, देश जनता के ही हाथ में है। लेकिन वे भी अपने अनितम उपन्यास 'मेरी तेरी' उसकी बात (1975) में अपने इस आशावाद को नहीं बनाए रख पाए। असल में मध्यवर्ग का व्यक्ति अपने जीवन की यात्रा बड़ी आशा और उत्साह से प्रारम्भ करता है, लेकिन इसे वह अन्त तक बनाए नहीं रख पाता। जीवन के अनितम दौर में वह अक्सर हताश होता है और टूटता है। प्रेमचन्द और यशपाल की निराशावादी औपन्यासिक परिणति इसी मध्यवर्गीय स्थिति को प्रमाणित करती है।

भारतीय मध्यवर्ग जैसे-जैसे विकसित होता गया है वैसे-वैसे उसमें व्यक्तिवादिता बढ़ती गई है। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास में मध्यवर्ग के प्रखर होते व्यक्तिवाद को अनेक रूपों में प्रतिबिम्बित होते हुए देखा जा सकता है। अज्ञेय का पहला उपन्यास 'शेखर : एक जीवनी' जब प्रकाशित हुआ तब उसने परम्परावादी और प्रगतिशील दोनों को चौंकाया और वह विवादास्पद बन गया। परम्परावादियों ने उसका विरोध उसमें चित्रित प्रेम-प्रसंगों विशेषतः शेखर और उसकी मौसरी बहन शशि के प्रेम-प्रसंगों को लेकर किया। इस प्रकार का प्रेम भारतीय समाज में स्वीकार्य न पहले था न अब है, यद्यपि मनोवैज्ञानिक इसे स्वाभाविक मानते हैं। अनेक मनोवैज्ञानिकों और समाजशास्त्रियों के सर्वेक्षणों ने सिद्ध किया है कि किशोरावस्था में विषम लैंगिक कामाकर्षण प्रायः रक्त सम्बन्धियों के बीच ही होते हैं। प्रगतिशीलों ने इसका विरोध शेखर की घोर व्यक्तिवादिता, अहंवादिता और विद्रोही प्रवृत्ति को लेकर किया। स्वातन्त्र्यपूर्व के 'हिन्दुस्तानी प्रजातन्त्रा समाजवादी सेना' से सम्बद्ध क्रान्तिकारियों में से जीवित बचे अधिकांश क्रान्तिकारी मार्क्सवाद की ओर गए तब अज्ञेय क्यों व्यक्तिवाद की ओर गए?

एक ही राजनैतिक पृष्ठभूमि से आए दो लेखक अज्ञेय और यशपाल दो परस्पर विरोधी परिणतियों तक क्यों पहुँचे? इसका उत्तर एक तो उनकी व्यक्तिगत प्रति-भिन्नता हो सकती है। दूसरे, वे एक ही राजनैतिक पृष्ठभूमि से अवश्य आए थे, लेकिन उनकी सामाजिक पृष्ठभूमियाँ अलग-अलग थीं। यशपाल निम्न मध्यवर्ग से आए थे जबकि अज्ञेय उच्च मध्यवर्ग से आए थे। 'झूठा सच' सम्बन्धी अपने संस्मरण में यशपाल ने लिखा है कि "विभाजन की यातना को मैंने वैयक्तिक रूप से नहीं भुगता परन्तु भावना और कल्पना द्वारा भुक्तभोगियों की तरह उसका भागी बनता रहा। (आधुनिक हिन्दी उपन्यास सं. भीष्म साहनी आदि, पृष्ठ 111-12) यशपाल ने अपने अधिकांश उपन्यास भावना और कल्पना को लेकर लिखे जबकि अज्ञेय ने अपने पहले दोनों उपन्यास 'शेखर : एक जीवनी' और 'नदी के द्वीप' अपने निजी जीवन के व्यक्तिगत भोगों के आधार पर लिखे। यदि 'शेखर : एक जीवनी' उनके बचपन से लेकर उनके क्रान्तिकारी जीवन और उसकी परिणति की कथा है तो 'नदी के द्वीप' उनके जीवन में घटित प्रेम और उसकी परिणति की कथा है। 'नदी के द्वीप' में प्रेम और वासना का जैसा सूक्ष्म और कलात्मक चित्रण हुआ है, वैसा हिन्दी के किसी दूसरे उपन्यास में नहीं हुआ है। बिना वैयक्तिक भोग के ऐसा चित्रण सम्भव नहीं था। इसीलिए उनके पहले दोनों उपन्यासों को आत्मकथात्मक उपन्यास की संज्ञा दी जाती है। जब निजी अनुभवों की सामग्री पहले दोनों उपन्यासों में खप गई तब उनका तीसरा लघ्वाकार उपन्यास 'अपने-अपने' अजनबी आया, जिसमें असितत्ववादी दार्शनिक ऊहोपोह तो बहुत है, लेकिन जीवन यथार्थ के अनुभव की ऊष्मा, तीक्ष्णता और प्रामाणिकता नगण्य है। उनका यह तीसरा उपन्यास 1961 में प्रकाशित हुआ था। उसके बाद अपने स्वर्णवास तक के 25-26 वर्षों में वे कोई और उपन्यास नहीं लिख पाए। ऐसा नहीं है कि उन्होंने उपन्यास लेखन की दिशा में प्रयत्न नहीं किया। 'बीनू भगत' और 'छाया मेखल' उनके ये दो अधूरे उपन्यास, उपन्यास-लेखन की दिशा में किए गए उनके प्रयत्नों के प्रमाण हैं। इससे यह भी सिद्ध होता है कि सीमित मध्यवर्गीय अनुभव पर आधारित उपन्यास लिखने वाला उपन्यासकार अधिक संख्या में उपन्यास नहीं लिख सकता।

स्वाधीनता के बाद के पहले दशक में उपन्यासकारों की एक पीढ़ी वह आई जो 'नई कहानी' आन्दोलन के साथ जुड़ी थी। इस पीढ़ी के प्रायः सभी उपन्यासकार शहरी मध्यवर्ग के व्यक्ति थे और अपने उपन्यासों में शहरी मध्यवर्ग के जीवन और उसकी समस्याओं का चित्रण कर रहे थे। मुक्तिबोध, राजेन्द्र यादव, निष्ण बलदेव वैद, मोहन राकेश, निर्मल वर्मा, कमलेश्वर, धर्मवीर भारती, देवराज, नरेश मेहता, गिरधर गोपाल,

सर्वश्रद्धालु सक्सेना, रघुवंश, लक्ष्मीकान्त वर्मा इत्यादि उपन्यासकारों के उपन्यासों की अन्तर्वस्तु स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय जीवन के एक बहुत सीमित दायरे में चक्कर काटती दिखाई देती है। जब सीमित दायरे का उनका अनुभव चुक जाता है तब वे या तो उपन्यास-रचना से विरत हो जाते हैं या वस्तु शिल्प के स्तर पर प्रयोग करने लगते हैं। धर्मवीर भारती का उपन्यास 'गुनाहों का देवता' (1949) प्रेम की भावुक और रूमानी कथा कहता है जिसमें स्वानुभूति का अंश अवश्य है। उनका यह उपन्यास पाठकों के एक वर्ग में बहुत लोकप्रिय हुआ; क्योंकि जिस प्रकार के प्रेम का चित्रण इस उपन्यास में है वैसे प्रेम के अभिलाषी मध्यवर्गीय किशारे-किशोरियों और युवकों-युवतियों की कोई कमी नहीं है। इस के बाद उनका दूसरा उपन्यास 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' (1952) में आया, जो अपनी शिल्पगत प्रयोगशीलता के कारण साहित्यिकों के बीच चर्चा का विषय तो बना, लेकिन 'गुनाहों का देवता' जैसी लोकप्रियता उसे नहीं मिली। सिर्फ 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' ही क्यों, अन्य प्रयोगशील हिन्दी उपन्यास भी लोकप्रिय नहीं हो सके। मध्यवर्ग के अधिकांश पाठक उपन्यास को मनोरंजन के लिए पढ़ते हैं। जब हिन्दी के स्वातन्त्र्योत्तर उपन्यासकारों ने गम्भीरता, दार्शनिकता, मनोवैज्ञानिकता और शिल्पगत प्रयोगशीलता का दामन पकड़ लिया तब हिन्दी के पाठकों ने अपनी भूख बंगला, मराठी, गुजराती आदि के उपन्यासों के अनुवाद पढ़कर मिटाई। यही स्थिति आज तक अन्य हिन्दी उपन्यासकारों के उपन्यासों की रही है।

'नई कहानी' की पीढ़ी के उपन्यासकारों में तीन उपन्यास-लेखिकाएँ भी उभर कर सामने आईं तिष्णा सोबती, उषा प्रियंवदा और मन्नू भंडारी। इन लेखिकाओं का अनुभव-क्षेत्र है तो मध्यवर्गीय, लेकिन मध्यवर्गीयपुरुषों के अनुभव से थोड़ा भिन्न है। मन्नू भंडारी ने अपने पहले उपन्यास 'आपका बंटी' (1971) में स्वातन्त्र्योत्तर मध्यवर्गीय समाज में स्त्री-पुरुष के बदलते सम्बन्धों, तलाक और बच्चे पर पड़ने वाले उसके प्रभाव का प्रामाणिक चित्रण किया। स्वातन्त्र्योत्तर काल में मध्यवर्गीय समाज की यह नई स्थिति है। मन्नू भंडारी ने अपने दूसरे उपन्यास 'महाभोज' (1979) में एक राज्य में एक विधायक के चुनाव को केन्द्र में रखकर स्वातन्त्र्योत्तर भारत में जनतन्त्र की विडम्बना को प्रस्तुत किया है। इससे थोड़ी भिन्न विडम्बना को श्रीलाल शुक्ल, ने अपने उपन्यास 'रागदरबारी' (1968) में प्रस्तुत किया। स्वाधीनता की लड़ाई तो आदर्श और त्याग के साथ लड़ी गई थी, लेकिन स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद तो धीरे-धीरे व्यावहारिक राजनीति से आदर्श और त्याग गायब होते गए और कुर्सी की राजनीति केन्द्रीय बन गई। फलतः मध्यवर्गीय

रचनाकार को राजनीतिक और राजनेताओं से वितृष्णा हो गई। उपन्यासों में इस वितृष्णा की अभिव्यक्ति तो हुई ही है, हिन्दी साहित्य की अन्य विधाओं में भी इसकी अभिव्यक्ति हुई है। कहा जा सकता है कि स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य राजनैतिक प्रतिपक्ष का साहित्य है। 'महाभोज' के बाद मन्नू भंडारी का भी और कोई उपन्यास नहीं आया। इसे भी सीमित अनुभव का ही परिणाम माना जा सकता है।

उषा प्रियंवदा के उपन्यासों में भी मध्यवर्गीय अनुभव ही व्यक्त हुआ है, लेकिन वह मन्नू भंडारी के अनुभव से भिन्न है। यह भिन्नता वैयक्तिक अनुभव की भिन्नता है। इन्हीं का नहीं, अपितु शशिप्रभा शास्त्री, मंजुल भगत, मृदुला गर्ग, ममता कालिया, राजी सेठ, नासिरा शर्मा, प्रभा खेतान, मैत्रेयी पुष्पा, सुनीता जैन, गीतांजलि श्री, अलका सरावगी, कमल कुमार, चित्रा मुदगल, मृणाल पाण्डे इत्यादि लेखिकाओं के उपन्यासों में भी जिस अनुभव का चित्रण हुआ है, उसमें उनके वैयक्तिक और विशिष्ट अनुभव की झलक देखी जा सकती है। स्वातन्त्र्योत्तर काल में उपन्यास-लेखिकाओं की बढ़ती हुई संख्या और उनके उपन्यासों की अन्तर्वस्तु इस बात का स्पष्ट संकेत है कि भारतीय समाज विशेषतः मध्यवर्गीय समाज में दूरगामी और मौलिक परिवर्तन हो रहे हैं। यह समाज अपनी मध्यकालीन स्थिरता या जड़ता को तोड़कर आधुनिक बन रहा है।

स्वतंत्रता के बाद हिन्दी उपन्यासकारों की स्थिति

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासकारों में से बहुत-से उपन्यासकार ऐसे हैं जो गाँवों से आकर शहर के मध्यवर्गीय समाज में समिलित हुए फणीश्वरनाथ रेणु, शिवप्रसाद सिंह, शैलेश मटियानी, रामदरश मिश्र, राजेन्द्र अवस्थी, लक्ष्मीनारायण लाल, राही मासूम रजा, विवेकीराय इत्यादि ने पहले जो उपन्यास लिखे, उनका सम्बन्ध ग्रामीण जीवन से है। ग्रामीण जीवन का चित्रण कहीं तो उसकी आंचलिक विशिष्टता के साथ है और कहीं सामान्यीकृत; लेकिन दोनों प्रकार के चित्रण में दृष्टि मध्यवर्गीय है। इन उपन्यासकारों की परिणति भी ध्यान देने योग्य है। जब इनका ग्रामीण जीवन का अनुभव चुक गया तो इन्होंने या तो उपन्यास लिखना बन्द कर दिया या ये भी शहरों की ओर मुड़ गए। फणीश्वरनाथ रेणु के पहले दो उपन्यास 'मैला आँचल' और 'परती' : परिकथा का सम्बन्ध ग्रामीण जीवन से है। यही दो उनके महत्वपूर्ण उपन्यास हैं। उनके बाद के उपन्यास 'दीर्घतपा', 'जुलूस', 'कितने चौराहे', और 'पल्डू बाबू रोड' न केवल आकार में छोटे हैं, अपितु महत्व में भी छोटे हैं। यदि

उन्होंने ये उपन्यास न भी लिखे होते तो भी उनके उपन्यासकार की महत्ता में कोई फर्क नहीं पड़ता। उनका उपन्यासकार के रूप में क्रमशः घास हुआ। 'मैला आँचल' पर 1955 में लिखते हुए जैसे इस दास की ओर नलिनविलोचन शर्मा ने संकेत कर दिया था। उन्होंने लिखा था "यह ऐसा सौभाग्यशाली उपन्यास है, जो लेखक की प्रथम निती होने पर भी उसे ऐसी प्रतिष्ठा प्राप्त करा दे कि वह चाहे तो फिर कुछ और न भी लिखे। ऐसी निती से लेखक को यह कठिनाता भी होती है कि वह अपने लिए ऐसा प्रतिमान सिंथर कर देता है, जिसकी पुनरावृत्ति कठिन होती है, गरचे, हमें विश्वास है कि रेणु 'मैला आँचल' से भी प्रस्तुत कर सकेंगे। (साहित्य : तत्त्व और आलोचना : पृष्ठ 213) सचमुच 'मैला आँचल' ने रेणु को जो प्रतिष्ठा दिलाई, उसमें उनके आगामी उपन्यास कोई इजाफा नहीं कर सके और नलिन विलोचन शर्मा ने जो विश्वास व्यक्त किया था, वह सच सिद्ध नहीं हो सका। इसी प्रकार रामदरश मिश्र उपन्यासकार के रूप में 'पानी के प्राचीर', 'जल टूटता हुआ और 'अपने लोग' में जिस ऊँचाई तक पहुँचे, उसे अपने शहरी जीवन से सम्बन्धित उपन्यासों में नहीं प्राप्त कर सके। ऐसी घटना अन्य कई उपन्यासकारों के साथ भी घटित हुई। इसे इसके अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है कि भारत के परम्पराबद्ध समाज में मध्यवर्गीय व्यक्ति का अनुभव विस्तार और वैविध्य दोनों की दृष्टि से सीमित होता है। इस सीमित मध्यवर्गीय अनुभव ने हिन्दी उपन्यास की सीमाएँ भी बाँधी हैं।

स्पष्ट है कि हिन्दी उपन्यास का अब तक का इतिहास भारतीय मध्यवर्ग का इतिहास है, भारतीय मध्यवर्ग के द्वारा लिखित इतिहास है और भारतीय मध्यवर्ग के लिए लिखित इतिहास है। निकट भविष्य में इस स्थिति में कोई परिवर्तन होगा, इसकी सम्भावना कम ही दिखती है।

संदर्भ

संजय जोशी, फ्रैक्चर्ड मार्टिनी, ओ यू पी, 2001, पृ. 5

एनकार्टा 2007, देखें बूर्जवाजी

गुरुचैन सिंह, दि न्यू मिडल क्लास इन इंडिया : ए बायोग्राफिकल एनालिसिस, रावत पब्लिकेशन, जयपुर, 1985, पृ. 19

एनकार्टा 2007, देखें बूर्जवाजी

लाल बहादुर वर्मा, यूरोप का इतिहास, खंड-1, प्रकाशन संस्थान, 1998, देखें फ्रांस क्रांति की कगार पर

वही

श्यामसुंदर दास, भारतीय मध्यवर्ग, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना, 1982, पृ. 58

टॉम बॉटमोर (संपा), दि ब्लैकवेल डिक्शनरी ऑफ सोशल थॉट, 1993, ब्लैकवेल पब्लिशर्स, पृ. 381

डॉ श्यामसुंदर दास, वही, पृ. 59

बी बी मिश्रा, दि इंडियन मिडल क्लासेज, ओ यू पी, 1978, पृ. 4-5

सी डी एम कैटलनी, आधुनिक काल का इतिहास, पृ. 8

वाई पी छिब्बर, फ्राम कास्ट टू क्लास, एशोसियेटेड पब्लिशिंग हाउस, 1968, पृ. 24

बी दत्ता रे (संपा), दि इमरजेंसी एंड रोल आफ मिडल क्लास इन नार्थ-इस्ट इंडिया, उप्पल पब्लिशिंग हाउस, न्यू डेल्ही, 1993, पृ. 9-10

वही, पृ. 10

रॉय लेविस, आंगुस माउडे, दि इंगलिश मिडल क्लासेज, पेलिकन बुक्स, पृ. 14

वही, पृ. 19-20

वही, पृ. 113

टॉम बॉटमोर (संपा), दि ब्लैकवेल डिक्शनरी ऑफ सोशल थॉट, पृ. 381-382

गुरुचैन सिंह, वही, पृ. 9

वही, पृ. 9

टॉम बॉटमोर (संपा), वही, पृ. 381

लियोनार्ड स्केरिंग्टन, दि क्राइसिस ऑफ दि ब्यूरोक्रेसी इल पायलट पेपर्स, वोल्यूम 2, नंबर 2, जून 1947, पृ. 77

गुरुचैन सिंह, वही, पृ. 37

वही, पृ. 47

वही, पृ. 49

इम्तियाज अहमद और हेल्मत रेईफेल्ड (संपा), मिडल क्लास
वैल्यूज इन इंडिया एंड यूरोप, सोशल साइंसेज प्रेस, न्यू
डेलही, 2003, पृ. 11

संजय जोशी, वही, पृ. 4-5

वही, पृ. 5

वही, पृ. 5

वाई पी छिब्बर, वही, पृ. 47

Corresponding Author

Mrs. Bala Devi*

Student